''स्कूल चलें हम...'' – मेरी कलम से

रुचि वर्मा*

विद्यालयी शिक्षा में गुणात्मक सुधार के उद्देश्य को लेकर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 का निर्माण किया गया। इसी के दिशा निर्देशों पर नयी पाठ्यपुस्तकों का निर्माण हुआ। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में इस योगदान की सफलता उस चारदीवारी के भीतर हो रहे क्रियाकलापों पर निर्भर है जिसे हम 'विद्यालय' के नाम से संबोधित करते हैं। यह लेख उस चारदीवारी के भीतर गुज़ारे गए पलों एवं अनुभवों को आपके साथ बाँटने का प्रयास है। शिक्षक व छात्र की मन:स्थिति तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षक की भूमिका को मद्देनज़र रखते हुए, प्राप्त अनुभवों की समीक्षा इस लेख में लिपिबद्ध है। इस प्रयास का उद्देश्य किसी समूह विशेष पर छींटाकशी या टीका-टिप्पणी बिलकुल नहीं है। यह मात्र वर्तमान स्थिति का अवलोकन कर कठिनाइयों से निपटने का रास्ता खोजने की अपील है।

हर वो पल जो जिया है अनुभव बन जाता है। हर अनुभव बाँट लेने से सीख बन जाता है। इसी को मद्देनज़र रखते हुए ये कलम कुछ यादगार खट्टे-मीठे पलों को आपके समक्ष प्रस्तुत करने के लिए चल पड़ी है।

बात बहुत पुरानी नहीं है, बात तो है सिर्फ पिछले तीन महीनों के सफर की, जो नवंबर 2012 में हरियाणा के एक गाँव के सरकारी विद्यालय में प्रारंभ हुआ। यह मौका था सरकारी विद्यालय की कार्यप्रणाली एवं व्यवस्था तथा ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के स्तर को समझने का। यह अवसर था विद्यार्थियों एवं शिक्षकों का उनकी कर्मभूमि पर समीप से अवलोकन करने एवं उनको जानने का।

याद आ रहा है जब एन.सी.एफ.-2005 का जन्म हुआ। पहली बार एक आम नागरिक, अभिभावक की आवाज़ को इस प्रक्रिया का हिस्सा बनाया गया और रचनात्मक प्रविधि

* *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, डीईएसएम, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

(Constructivist approach) की हवा ने जोर पकड़ा। यह हवा मौजूदा पाठ्यपुस्तकों के पन्नों को झकझोर गई। पुस्तकों में से शब्दों और वाक्यों की जगह हिल गई। पाठ्यपुस्तकों में पाठ्यवस्तु के प्रस्तुतीकरण पर प्रश्नचिह्न लग गया। अभियान चल पड़ा नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के निर्देशों पर नयी पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का, प्रयास किया गया पाठ्यपुस्तकों को कुछ ऐसी सूरत देने का जो समझ के सीखो, समझ के जानो एवं करके बूझो की चिंगारी को प्रज्वलित कर सकें। ऐसी पुस्तकें जो विद्यार्थियों की समझ को एक दिशा दे सकें।

एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकें देश भर में एक आदर्श पुस्तक की तरह पढ़ी एवं समझी जाती हैं। सन् 2004 तक जो किताबें चल रही थीं उनमें कहीं कोई कमी थी ऐसा बिलकुल ना समझा जाए। वो किताबें अपने आप में संपूर्णता का प्रतीक थीं। बात थी मात्र पाठ्यपुस्तकों को एक नया रूप देने की जो बच्चों की सृजनात्मकता एवं समझ के स्तर को उभार सकें। ऐसी पुस्तकें जो शिक्षक एवं विद्यार्थियों के बीच के रिश्ते को एक ऐसे स्तर पर ले जा सकें जहाँ शिक्षक मात्र प्रवक्ता एवं विद्यार्थी मूक श्रोता बन कर ना रहे। शिक्षक व विद्यार्थी के बीच ज्ञान के आदान-प्रदान की धारा बहे ना कि मात्र ज्ञान के एकतरफ़ा प्रवाह की। विद्यार्थी को इस आदान-प्रदान की प्रक्रिया में अपने अस्तित्व का बोध हो सके। उसकी अंतर्मन उपस्थिति-अनुपस्थिति के बंधन से मुक्त होकर स्वेच्छा से कक्षा की ओर कदम बढ़ा सके।

कक्षा 1 से 12 तक प्रत्येक स्तर एवं प्रत्येक विषय की पुस्तक रची गई। विद्वानों एवं अनुभवी शिक्षकों के समन्वित व अथक प्रयास का नतीजा है इस पीढ़ी की पुस्तकें। इस दौरान अपने बचपन में झाँकते हुए एक कल्पना बार-बार मन में उछाल मार रही थी। काश ऐसा होता कि जो क्रियाकलाप जो गतिविधियाँ हम पुस्तक में प्रस्तुत कर रहे हैं उन्हें हमने अपने अध्यापकों के सानिध्य में किया होता, समझा होता। मन का यह लालच मन को विचलित बनाता रहा। क्यों नहीं हमें ऐसा अवसर मिला जिसमें चीज़ों को हम देखकर व करके समझ पाते।

संक्षिप्त में ये सफ़र था राष्ट्रीय पाठ्यचर्या से पुस्तकों के निर्माण तक का। पुस्तकें अपने गंतव्य तक पहुँचीं। नन्हे हाथों ने इन्हें थामा। आइए अब चलते हैं उस दुनिया में जहाँ ये पुस्तकें बच्चों के हाथों में आने का गौरव प्राप्त कर रही हैं। यह जानना बहुत ज़रूरी है कि क्या बच्चों एवं पुस्तकों के बीच दोस्ती का ताना-बाना बुना जा रहा है। जिस मानसिकता एवं सिद्धांतों पर ये पुस्तकें आधारित हैं, क्या वह पाठक तक पहुँच रही हैं?

विद्यालय के प्रवेश द्वार से अंदर आते हुए जाना कि विद्यालय गरीबी रेखा से नीचे स्तर के बच्चों से आबाद है। भारत सरकार के 'आओ सब पढ़ें' का नारा कुछ-कुछ साकार होता दिख रहा था। विद्यालय की प्राचार्या महोदया से वार्तालाप होने के दौरान एक बड़ी-सी गाड़ी पर नज़र पड़ी। पता चला यह मध्यांतर भोजन योजना

(Midday meal) का सेवारत वाहन है। बच्चों को ज्ञान के प्रकाश के साथ-साथ भोजन की ऊर्जा भी प्राप्त हो रही है। खेलने के लिए प्रांगण की भी कोई कमी नहीं। पानी की दो टंकियाँ प्यास बुझाने के लिए पर्याप्त हैं।

विद्यालय उच्च माध्यमिक विद्यालय था। छात्र व छात्राएँ एक साथ पढ़ते थे। माध्यमिक स्तर तक लड़के व लड़कियों का विभाग अलग-अलग था। केवल एक विभाग में लड़के व लड़कियाँ एक साथ बैठते थे। कारण पूछने पर पता चला कि अभिभावकों को लड़के, लड़कियों को एक साथ पढ़ने पर एतराज है। यह वहाँ की सामाजिक सोच के स्तर का प्रतीक था। खैर ये क्या कम था कि लड़कियों की विद्यालय में उपस्थिति सोच में बदलाव की ओर इशारा था।

अब वक्त था बच्चों की मनःस्थिति को समझने का। कक्षा छः के एक विभाग में प्रवेश किया। कक्षा में बच्चों का सैलाब देख अध्यापकों द्वारा उठाए जाने वाले प्रश्न ने मस्तिष्क में दस्तक दी। इतने बच्चों के साथ कक्षा में क्रियाकलाप कैसे किए जाएँ? अध्यापकों की बेचारगी का आज साक्षात्कार हो रहा था। बच्चों से परिचय का सिलसिला प्रारंभ हुआ। सभी बच्चे गरीब परिवारों से थे। अधिकतर बच्चों के माता-पिता दोनों ही फ़ैक्ट्रियों में कार्यरत थे। पता चला वे सुबह आठ बजे घर से निकल जाते हैं और देर रात तक घर आते हैं। बच्चे अपने आप तैयार होकर स्कूल आते हैं। आँखों के आगे शहर के पब्लिक स्कूल के संपन्न परिवारों के बच्चों एवं इन ग्रामीण गरीब बच्चों के बीच एक तुलनात्मक चित्र उभर आया।

सरकारी स्कूल के नाम से टाट पट्टी पर बैठे बच्चों से भरी कक्षा का चित्र मन में उभरता है। लेकिन विद्यालय की सभी कक्षाओं में फर्नीचर पूरा था। पता चला यह देन थी किसी बड़ी उद्योग कंपनी की। सरकार की टैक्स में छूट की यह नीति बच्चों का भला कर गई। कक्षा में एक नए चेहरे की उपस्थिति ने बच्चों के चेहरों पर असमंजस का भाव ला दिया था। बच्चों की आँखों में उत्सुकता के भाव एवं चेहरे की आशा कह रही थी कि उनकी विद्यालय की दिनचर्या में एक नये चेहरे का स्वागत करने को वे तैयार हैं। प्रश्नों की बौछारें हुईं। उनके उत्सुकता भरे प्रश्नों का उत्तर देते-देते कब दो कालांश निकल गए पता ही नहीं चला।

लेकिन बातचीत के दौरान इतना तो तय हो चुका था कि पहली नज़र में कक्षा की संख्या देखकर जो प्रश्न मन में उठा था वो इन बच्चों की इच्छाशक्ति एवं कुछ नया करके देखने की चाहत के आगे फीका पड़ने वाला है। दो घंटों तक चले परिचय सत्र में बच्चों की रुचियों के बारे में जानकारी हुई। किस विषय में उनका रुझान अधिक है और क्यों, विगत हुआ। अधिकतर बच्चे अंग्रेज़ी बोलना सीखना चाहते थे। आज के युग की चकाचौंध और अंग्रेज़ी के बुखार ने उन्हें भी घेर रखा था। विज्ञान विषय सामान्यतः बच्चों को मुश्किल प्रतीत होता है, ऐसा मालूम हुआ। अपने आस-पास हो रही गतिविधियों में विज्ञान को समझना तो दूर की बात थी। यह तो मानो किसी दूसरे ग्रह का विषय हो। विज्ञान के प्रति समझ मात्र किताब में लिखे

काले अक्षरों तक सीमित थी। किताबें पाठ के अंत में पूछे गए अभ्यास प्रश्नों के उत्तरों से पूर्णतः चिह्नित थीं। एक बार तो लगा मानो ये प्रश्न किताब में निशान लगाने के लिए ही पूछे गए हैं। यह माजरा मात्र छठी कक्षा तक ही सीमित न था। सातवीं व आठवीं के बच्चे भी इस दौड़ में पीछे न थे। किताब का रंग-बिरंगा होना बच्चे की होशियारी का प्रतीक था। ऐसा अनुभव हुआ कि सपने को अंजाम देना इतना भी सरल नहीं, जितनी हम उम्मीद करते हैं।

कक्षाओं के अनौपचारिक अवलोकन को नीचे लिखी पंक्तियों में समेटने का प्रयास है–

कक्षा में झाँका देखने को माजरा,
आँखों की उमंग, दिल की तरंग व हाथों की
हलचल को दम तोड़ते हुए देखा,
दिल में हुड़क उठी चल कुछ कर पर
खुद को भी भँवर में कहीं खोते हुए देखा।

कक्षाओं में समय बिताने के बाद थोड़ा अध्यापिकाओं से गुफ़्तगू करने का समय मिला। हिंदुस्तान की शिक्षा-व्यवस्था को कोसने का सारा ज़िम्मा उन्हीं के कंधों पर था। शिकायतों का पिटारा ऐसा मानो मुँह बंद ना करने के लिए ही खुला हो। ऊपर से लेकर नीचे तक सब भ्रष्ट, तो शिक्षक अकेला क्या करे। एक जान व हज़ार काम। कानूनी कार्रवाइयों के कागज़ काले करने से फ़ुर्सत मिले तो पढ़ाने पर ध्यान जाए। ये रिकॉर्ड, वे रजिस्टर, वो डायरी और ना जाने क्या-क्या? इस पर कंप्यूटर शिक्षक के मेहनताने के बारे में सुनकर पैरों के नीचे से ज़मीन ही खिसक गई। यह तो सच में शोषित होने जैसा था। समय शुरू हुआ दिल व दिमाग के बीच की पेशोपेश का। कौन सही, कौन गलत? उफ्फ तौबा है, कैसे समझा जाए? उत्तेजित स्वर कान में पड़े। मैडम, सब राजनीतिक दाँवपेच हैं। सरकार बदली तो क्या पढ़ाने का ढंग भी बदल दें? पूरी ज़िंदगी हो गई पढ़ाते। हमें पता है कैसे पढ़ाया जाता है? No detention की सरकार की नीति ने तो अध्यापकों के मन में मानो आक्रोश भर रखा था।

मैडम गधे-घोड़े सब बराबर हैं। हरियाणवी अंदाज़ में एक आवाज़ आई। ऐसा लग रहा था मानो देश की शिक्षा प्रणाली पर जितने प्रश्न वहाँ उपस्थित अध्यापकों के मन में हैं आज उनका समाधान वो मुझसे निकलवाकर ही दम लेंगे। अध्यापकों की भावनाओं की कद्र करते हुए धैर्यपूर्वक उनकी बातें सुनीं। जिस मुद्दे पर बात शुरू करनी थी वो तो कहीं किनारे लग गया था। मन में आया जिस तरह प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, उसी तरह बात कह कर गँवाने से फ़ायदा नहीं। अब तो करके दिखाना होगा। आलोचनात्मक बहस में पड़ने से अच्छा है प्रस्तुतीकरण किया जाए।

अगले ही दिन से मैंने उच्च प्राथमिक स्तर पर विज्ञान का कालांश लेने का ज़िम्मा उठा लिया। जैसा कि वहाँ सत्रीय व्यवस्था (Semester System) थी तथा पहला सत्र खत्म हो चुका था। दूसरे सत्र के पाठ्यक्रम को पूरा करने की दौड़ जारी थी।

जानकारी मिली कि स्कूल में सेकंडरी स्तर की विज्ञान प्रयोगशाला है। ज़रूरत का सामान वहाँ पर उपलब्ध हो सकेगा। हालाँकि इस स्तर

पर कोई बहुत खास वैज्ञानिक उपकरण की तो आवश्यकता नहीं थी पर फिर भी थोड़ा बहुत जो भी चाहिए, मिल सकता है, जानकर अच्छा लगा।

अगले दिन मैं बच्चों को विज्ञान कैसे पढ़ें, समझाने का उद्देश्य मन में लिए कक्षा की ओर चल पड़ी। पहले दो–तीन दिन साधारण मुद्दों एवं आस–पास दिखाई देने वाली चीज़ों पर चर्चा जारी रही। इस चर्चा के दौरान बच्चों की भागीदारी ने मेरे आत्मविश्वास को बल दिया। धीरे–धीरे पाठ्यपुस्तक में दिए गए क्रियाकलापों से संबंधित सामग्री जुटाने के लिए बच्चों ने पहल की। कुछ रसायन जो वे नहीं ला सकते थे, उन्हें स्कूल की प्रयोगशाला से ले लिया गया मसलन लाल व नीला लिटमस पत्र, कॉपर सल्फेट, जिंक सल्फेट इत्यादि। जो क्रियाकलाप दूसरे दिन करना होता उसका सामान बच्चे हाजिर कर देते। बच्चों का भरपूर साथ मिलने लगा। सामान रखने के लिए डिब्बे से छोटी सी किट भी बनकर तैयार हो गई। छोटी–छोटी शीशियों में रसायन व अन्य पदार्थ भरकर रख दिए गए। अब हर दिन एक Activity (क्रियाकलाप) किया जाता व उस पर विचार–विमर्श होता। बच्चे प्रेक्षणों के आधार पर निष्कर्ष निकालने की कोशिश करते। इस समय उन्हीं के शब्दों को आपके सामने रखना अति आवश्यक है। बहुत ही खुश व अचंभित मुद्रा में एक लड़की बोली ''मैडमजी जो कुछ किताब में बना व लिखा है, वो क्या सच्ची में होता है। हम तो सोचते थे जी कि ये सिर्फ किताब में ही लिखा होता है।'' सुनकर आपको भी तो आश्चर्य हो रहा होगा। लेकिन आश्चर्य से ज़्यादा दुख हुआ कि बच्चों को हम किस कदर किताबी कीड़ा बनाकर छोड़ देते हैं।

अभी तक जो कुछ चल रहा था उसमें एक पहलू को गहराई से सोचने तथा उसका समाधान निकालने की प्रथम आवश्यकता है। क्रियाकलाप करने, चर्चा करने व कक्षा की गतिविधियों में भाग लेने तक तो सब सही था पर बात जब लिखकर स्पष्ट करने की आती तो मामला गंभीर हो जाता। उच्च प्राथमिक स्तर तक यह अपेक्षा की जाती है कि विद्यार्थी अपनी बात को स्पष्ट व सही रूप से लिखकर बता सके। लिखावट में कभी शब्दों का चयन गलत हो जाता, तो कभी वाक्य ही सही नहीं बनता। व्याकरण व वर्तनी की अशुद्धियाँ तो आम बात थी। इस दोष का निवारण कैसे व कहाँ हो, यह अहम मुद्दा है। अगर इस परेशानी की जड़ तक जाएँ तो एक पक्ष जो सामने आता है, वह है प्राथमिक स्तर पर बच्चों की भाषा पर पकड़ मज़बूत करना। इसके लिए कक्षा पाँच तक हिंदी, अंग्रेज़ी व क्षेत्रीय भाषा पर बच्चों की पकड़ बनानी होगी। अधिक से अधिक प्रस्तुतीकरण, वार्तालाप, लेखन प्रतियोगिताएँ एवं इसी प्रकार की अन्य गतिविधियों को पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बनाना होगा। साथ ही इस बात का ध्यान रखना होगा कि इन सभी गतिविधियों का मूल्यांकन भी हो। क्योंकि यह हमारी मानसिकता को सबसे अधिक प्रभावित करता है। हम एक ऐसी व्यवस्था में अपने आपको बँधा हुआ पाते हैं जहाँ होड़ लगी रहना एक परंपरा बन गई है। उसी में हमें शायद संतोष भी प्राप्त होता है। बिना यह सोचे समझे कि

इसमें कहीं हम कुछ पाने की अपेक्षा गँवा तो नहीं रहे। मूल्यांकन कब और कैसे हो हालांकि यह विषय अपने आप में बहुत गंभीर एवं पेचीदा है। क्या व्यक्ति, काल व परिस्थिति की उपेक्षा करते हुए इसे एक ही ढाँचे में ढालना उचित होगा? ऐसे बहुत से प्रश्नों का ज़हन में उठना स्वाभाविक है? लचीलेपन का समावेश हो तो कैसे उसे व्यावहारिक स्तर पर लाया जाए, एक बड़ी समस्या है।

सी.सी.ई. (CCE) के नाम पर कहीं कागज़ों की बरबादी का सिलसिला तो जारी नहीं हो गया है? यह सीखने-सिखाने की लीक से हटकर किसी चुनौतीपूर्ण जटिल व्यवस्था को तो जन्म नहीं दे रहा? छात्र का आकलन क्यों हो, इस प्रश्न का उत्तर जाने बिना हम कैसे यह निर्णय कर पाते हैं कि उसका आकलन किस विधि से हो? यह सिर्फ़ शब्दों का जाल नहीं है, हकीकत है जिसका सामना करना प्रथम आवश्यकता है। आकलन व मूल्यांकन मात्र एक प्रथा की तरह निभाने का दायित्व भर बन गया है। इसके पीछे छुपा उद्देश्य जाने अनजाने कहीं बहुत पीछे छूटता जा रहा है। शिक्षण-अधिगम की प्रक्रिया में कहीं मूल्यांकन एक बाधा के रूप में तो नहीं उभर रहा। नीति-निर्माता एवं क्रियान्वयन समूह के बीच की खाई पाटने की शुरूआत ही शायद इसके समाधान की ओर कदम हो।

बुरा ना मानिए पर यह कहते हुए कतई संकोच नहीं है कि अध्यापकों से चर्चा करते समय महसूस होता है मानो इच्छा शक्ति ने कहीं दम तोड़ दिया है। बहुत लाचार, पीड़ित एवं स्वयं को शोषित महसूस करने वाला समूह एवं बिना किसी प्रेरणा के अध्यापक की भूमिका निभाना मानो उनकी मज़बूरी बन गई है।

सरकार की शिक्षा के स्तर को सुधारने की नयी नीतियाँ मानो कागज़ काले करने का उद्देश्य बन कर रह गई है। स्थिति बहुत अच्छी नहीं पर निराशाजनक भी नहीं हैं। 'सब पढ़ो सब बढ़ो' की शुरूआत हो जाना ही एक उपलब्धि है। गुणवत्ता की जहाँ तक बात है तो उस दिशा में भी प्रयास जारी है। परिस्थिति को एक स्तर तक लाने में समय अपनी भूमिका निभाएगा।

जहाँ तक बच्चों की काबिलियत का सवाल है तो कहीं कोई प्रश्नचिह्न है ही नहीं, इसलिए गधे-घोड़े की कहावत विवाद से परे है। 'हर बच्चा है अच्छा' की सकारात्मक सोच को पैदा करना ही एक चुनौतीपूर्ण समस्या है। समस्या है तो समाधान भी है। समाधान हमसब की एकजुटता चाहता है, हमारी सोच की एक नयी दिशा माँगता हैं।

यह तो समय-चक्र है, तीन महीने गुज़रे और बच्चों से विदाई का समय आ गया। क्या बच्चों का यह उत्साह बना रहेगा? क्या बच्चे इस शुरुआत को आगे बढ़ाएँगे? ऐसे प्रश्नों का मन में आना स्वाभाविक है। समय के साथ ही इन प्रश्नों का उत्तर मिल सकेगा।

आत्म परिवर्तन ही समग्र परिवर्तन का आधार है। कुछ नीचे लिखी पंक्तियों के साथ ये कलम अब विश्राम लेती है–

दुनिया बदले इक दिन में
लगता है नामुमकिन सा

सब कुछ हासिल इक पल में
लगता है कुछ सपना सा
सोच बहुत कुछ देती है
सपना भी लगता मुमकिन सा
एक कदम भी उठा अगर

सफर बन गया मंजिल सा
आस किरण ने थामा है
हाथ बढ़ाकर अपना सा
चलो चलें सब मिलजुलकर
उड़ान भरें एक पंछी सा।